International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

श्रीमद्भगवद्गीता के आलोक में कर्तव्यविचलित अंतःकरण में ज्ञान-कर्म समन्वय और चेतना का पुनर्जागरण

प्रो० पवन कुमार गुप्त

आचार्य एवं अध्यक्ष (संस्कृत विभाग), बाबा बरुआ दास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, परुइया आश्रम, अम्बेडकर नगर

Abstract

प्रस्तुत आलेख "श्रीमद्भगवद्गीता के आलोक में कर्तव्यविचलित अंतःकरण में ज्ञान-कर्म समन्वय और चेतना का पुनर्जागरण" मानव जीवन में आने वाले मानसिक अवसाद, कर्तव्य-विमुखता और आधुनिक 'एग्जिस्टेंशियल क्राइसिस' (अस्तित्व के संकट) का श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करता है। लेख स्पष्ट करता है कि अर्जुन का विषाद किसी कायरता का परिणाम नहीं, बल्कि मोह और आसक्ति के कारण उत्पन्न हुआ कर्तव्य-संकट है, जो प्रत्येक युग के उस मनुष्य का प्रतीक है जो अपने संकीर्ण स्वार्थों के कारण व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्वों से भटक जाता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण आत्मा की शाश्वतता और शरीर की नश्वरता का ज्ञान देकर अर्जुन को मृत्यु, भय और शोक से मुक्त करते हैं, जिससे उसे आन्तरिक स्थिरता प्राप्त होती है। इसके साथ ही, आलेख गीता के 'निष्काम कर्म' सिद्धांत पर गहराई से विचार करता है, जो कर्म से पलायन नहीं बल्कि फल की आसक्ति से मुक्ति है। स्वधर्म का पालन व्यक्तिगत सुख से ऊपर उठकर सामाजिक और नैतिक उत्तरदायित्व निभाने का नाम है। सफलता-विफलता और सुख-दुःख में समान भाव (समत्व) रखना ही सच्चा 'योग' है और एक 'स्थितप्रज्ञ' व्यक्ति समस्त भौतिक आकर्षणों से मुक्त होकर, कीचड़ में कमल की भाँति निर्लिप्त रहते हुए कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता है। अंततः, यह स्पष्ट किया गया है कि आज के भौतिकवादी, प्रतिस्पर्धी और तनावपूर्ण युग में, गीता का यह 'ज्ञान-कर्म समन्वय' भटके हुए और अवसादग्रस्त मनुष्य को पुनः पुरुषार्थ और सक्रियता के मार्ग पर लाने के लिए समग्र मानवता की चेतना का एक शाश्वत महाघोष है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में मनुष्य को केवल एक जैविक सत्ता नहीं, अपितु चेतना, विवेक और उत्तरदायित्व से सम्पन्न नैतिक सत्ता माना गया है। यही कारण है कि भारतीय मनीषा ने मानव जीवन के संकटों का समाधान केवल बाह्य व्यवस्था में नहीं, बल्कि अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान की जागृति और कर्म की शुचिता में खोजा है। संस्कृत वाङ्मय की वीथियों में जब हम विचरण करते हैं, तब पाते हैं कि मानव-मन की दुर्बलताओं और उसके समाधानों का जैसा सघन चित्रण यहाँ उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानव जीवन का एक अत्यन्त जटिल मोड़ वह होता है, जब व्यक्ति मोह, भय, शोक, असफलता अथवा सम्बन्धों की जटिलताओं से घिरकर अपने मूल उत्तरदायित्वों से विमुख हो जाता है। इस अवस्था को शास्त्रकारों ने ‘कर्तव्यच्युति’ या ‘स्वधर्म-त्याग’ की संज्ञा दी है।

किन्तु, संस्कृत साहित्य और विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्य को इस अवसाद के गर्त में स्थायी रूप से गिरने नहीं देती। जब भी कोई चेतना दिग्भ्रमित होती है, तब यह कालजयी ग्रंथ केवल धार्मिक उपदेश न देकर मानव चेतना का पुनर्संयोजन करता है। यहाँ तमस् से उबारने के लिए ‘ज्ञान’ अर्थात् विवेक की रश्मियाँ और ‘कर्म’ अर्थात् पुरुषार्थ की ऊर्जा एक त्रिवेणी बनकर अवतरित होती हैं, जो जीव को पुनः उसके नियत कर्तव्य-पथ पर प्रतिष्ठित कर देती हैं। योगवासिष्ठ में भी इसी मानसिक भटकाव का गहन विश्लेषण मिलता है, जहाँ श्रीराम के वैराग्य जनित अवसाद को महर्षि वसिष्ठ तत्त्वज्ञान के द्वारा परम पुरुषार्थ में बदलते हैं।

कर्तव्य से यह विमुखता किसी कायरता का परिणाम नहीं होती, बल्कि विवेक पर मोह का एक महीन आवरण आ जाना है। जब मनुष्य समष्टि (समाज और राष्ट्र) के व्यापक कल्याण को विस्मृत कर 'व्यष्टि' (मैं और मेरा) के संकीर्ण संसार में सिमट जाता है, तभी वह अपने मार्ग से भटकता है। आधुनिक मनोविज्ञान जिसे 'एग्जिस्टेंशियल क्राइसिस' (अस्तित्व का संकट) या 'बर्नआउट' कहता है, वह वास्तव में अर्जुन के इसी विषाद का आधुनिक संस्करण है, जहाँ मनुष्य कर्म की निरर्थकता के बोध से ग्रसित होकर निष्क्रिय होने लगता है। गीता का अर्जुन वस्तुतः प्रत्येक युग के संशयग्रस्त मनुष्य का प्रतीक है। वह सामर्थ्यवान होते हुए भी किंकर्तव्यविमूढ़ है; वह धर्म को जानता है, परन्तु मोह के कारण उसका पालन नहीं कर पाता। यही कारण है कि कुरुक्षेत्र केवल एक ऐतिहासिक युद्धभूमि नहीं, बल्कि मानव-मन का शाश्वत प्रतीक बन जाता है जहाँ कर्तव्य और मोह, विवेक और संवेदना, साहस और दुर्बलता का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है।

अर्जुन जब अपने गुरुजनों, पितामह, भ्राताओं और सम्बन्धियों को युद्ध के लिए उपस्थित देखते हैं, तब उनका मन करुणा और अवसाद से भर उठता है, जैसा कि गीता में वर्णित है कि इस प्रकार स्वजनों को उपस्थित देखकर अर्जुन व्याकुल हो गए- "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।"[1] उनका गांडीव हाथ से ढीला पड़ जाता है, त्वचा में जलन होने लगती है और वे पूरी तरह युद्ध से विमुख हो जाते हैं- "गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।"[2] यह केवल तात्कालिक भावुकता नहीं, बल्कि कर्तव्य-बोध के ऊपर मोह की गहरी विजय है। अर्जुन की यह स्थिति कठोपनिषद् के नचिकेता के बिल्कुल विपरीत है। नचिकेता भी जीवन और मृत्यु के गूढ़ प्रश्न के सामने खड़े होते हैं, परन्तु वे किसी भी भय या मोह से विचलित नहीं होते। यम उन्हें जब भोग, ऐश्वर्य और दीर्घायु का प्रलोभन देते हैं, तब नचिकेता स्पष्ट कहते हैं कि ये नश्वर वस्तुएँ मनुष्य की इंद्रियों के तेज को नष्ट करती हैं और स्थायी संतोष नहीं दे सकतीं- "श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्।"[3] नचिकेता का यह वैराग्य अर्जुन के मोह का प्रतिलोम है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उसी आत्मबोध की ओर ले जाना चाहते हैं जहाँ कर्तव्य व्यक्तिगत आसक्ति से ऊपर उठ सके।

इस वैचारिक अन्धकार और कर्तव्य-विमुखता का उपचार योगेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञान से आरम्भ करते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं कि तुम उनके लिए शोक कर रहे हो जो शोक के योग्य नहीं हैं और ज्ञानियों जैसी बातें करते हो- "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।"[4] यहाँ ज्ञान का तात्पर्य केवल बौद्धिक सूचना या यांत्रिक संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि अस्तित्व का साक्षात् बोध और 'विवेक की आत्मिक जागृति' है। उपनिषदों की भाँति गीता भी आत्मा की नित्यता को मनुष्य के मानसिक सन्तुलन का सबसे बड़ा आधार मानती है। श्रीकृष्ण उद्घोष करते हैं कि आत्मा न कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है- "न जायते म्रियते वा कदाचित्।"[5] यह उद्घोष कठोपनिषद् के उस वाक्य की हूबहू प्रतिध्वनि है जिसमें आत्मा को अजन्मा, नित्य और शाश्वत कहा गया है- "न जायते म्रियते वा विपश्चित्।"[6] इस आत्मबोध का उद्देश्य कोई शुष्क दार्शनिक विवेचन मात्र नहीं, बल्कि मनुष्य को तत्काल भय और शोक से मुक्त करना है। जब तक मनुष्य स्वयं को केवल भौतिक शरीर मानता है, तब तक वह वियोग और विनाश के भय से बँधा रहता है; परन्तु आत्मा की शाश्वतता का बोध उसे आन्तरिक स्थिरता प्रदान करता है। यही चेतना आचार्य शंकर के विवेकचूडामणि में भी दिखाई देती है, जहाँ अनात्म वस्तुओं से आसक्ति हटाकर आत्मस्वरूप में स्थित होना ही समस्त दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति माना गया है।

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण एक अत्यन्त सुन्दर रूपक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा जीर्ण शरीरों को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करती है- "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय..."[7] यह रूपक अत्यन्त साहित्यिक और दार्शनिक दोनों है, जो मनुष्य को जीवन की अनित्यता का बोध कराता है। यही उदात्त भाव ईशावास्योपनिषद् में भी अत्यन्त सूक्ष्मता से व्यक्त हुआ है जहाँ कहा गया है कि इस संसार में जो कुछ भी गतिमान है, उसे त्याग की भावना के साथ भोगो- "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा।"[8] यहाँ त्याग का अर्थ पलायन या कर्म संन्यास नहीं है, बल्कि फल की आसक्ति से मुक्ति है। गीता इसी उपनिषदिक भाव को व्यावहारिक धरातल पर निष्काम कर्म के रूप में विकसित करती है।

देखा जाए तो अर्जुन की समस्या केवल ज्ञानाभाव की नहीं, बल्कि एक गहरे कर्म-संकट की भी है। वे धर्म को जानते हुए भी कर्म करने का साहस खो बैठते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण उन्हें उनके स्वधर्म का स्मरण कराते हुए कहते हैं कि अपने क्षत्रिय धर्म को देखकर तुम्हें इस प्रकार भयभीत या विचलित नहीं होना चाहिए- "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।"[9] भारतीय परम्परा में स्वधर्म का अर्थ कोई संकीर्ण या संकुचित कर्म नहीं, बल्कि जीवन के प्रति वैश्विक उत्तरदायित्व और सामाजिक नीति की रक्षा है। रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसी स्वधर्म के साक्षात् आदर्श रूप हैं। वनवास पूर्णतः अन्यायपूर्ण होते हुए भी वे पिता की आज्ञा और लोकमर्यादा की रक्षा के लिए उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं, क्योंकि रघुकुल की शाश्वत रीति ही यही रही है कि प्राण भले ही चले जाएँ पर वचन और कर्तव्य की मर्यादा नहीं टूटनी चाहिए- "रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाए पर वचन न जाई।"[10] राम का यह आचरण बताता है कि कर्तव्य का पालन व्यक्तिगत सुख और अधिकारों से कहीं ऊपर होता है। अर्जुन का संकट इसी मर्यादा-बोध की पुनर्स्थापना की मांग कर रहा था।

श्रीमद्भगवद्गीता का सर्वाधिक मौलिक और क्रांतिकारी सिद्धान्त निष्काम कर्म है, जिसे इस सम्पूर्ण दर्शन की आत्मा कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश है कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने पर है, उसके फल पर कभी नहीं- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥"[11] इस अमर श्लोक में कर्म को त्याज्य नहीं माना गया, बल्कि कर्म के पीछे छिपी फलासक्ति और अहम् को त्याज्य कहा गया है। जब मनुष्य कर्म की सहज गति को छोड़कर फल की चिन्ता के भंवर में फंस जाता है, तभी उसकी कार्यक्षमता शिथिल होती है और वह भय, लोभ तथा संशय से भर जाता है। यह विचार ईशावास्योपनिषद् में भी बड़ी प्रखरता से व्यक्त हुआ है जहाँ कर्म करते हुए ही सौ वर्षों तक सम्मानपूर्वक जीने की इच्छा व्यक्त की गई है- "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"[12] सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में कर्म से पलायन का कहीं स्थान नहीं है, बल्कि कर्म की शुद्धि का प्रबल आग्रह है और गीता इसी गौरवशाली परम्परा का शीर्ष बिन्दु है।

इसके साथ ही, श्रीकृष्ण अर्जुन को समत्व की अनुपम शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर तुम युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ- "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।"[13] यह समत्व भारतीय दर्शन का केंद्रीय मूल्य है। महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्र में जिस चित्तवृत्ति-निरोध की बात करते हैं और भगवान् बुद्ध जिस मध्यम मार्ग की स्थापना करते हैं, गीता उसी मानसिक साम्यावस्था को सीधे तौर पर 'योग' की संज्ञा देती है- "समत्वं योग उच्यते।"[14] समत्व का अर्थ संवेदनहीनता या जड़ता नहीं है, बल्कि विपरीत परिस्थितियों के थपेड़ों में भी अडिग रहने वाला आत्मिक सन्तुलन है। जो व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों से अत्यधिक आंदोलित नहीं होता, वही अपने कर्तव्य का कुशलतापूर्वक निर्वाह कर सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन की अकर्मण्यता पर प्रहार करते हुए पुरुषार्थ का ओजस्वी आह्वान करते हैं और कहते हैं कि इस नपुंसकता को मत प्राप्त हो- "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।"[15] यह केवल युद्ध का उद्घोष नहीं, बल्कि जीवन के प्रति परम सक्रियता का संदेश है। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ का अत्यन्त गौरव रहा है। महाभारत के उद्योगपर्व में भी स्पष्ट कहा गया है कि केवल इच्छाओं या मनोरथों से नहीं, बल्कि वास्तविक पुरुषार्थ और उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं- "उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।"[16]

महाकवि कालिदास के काव्यों में भी इसी उदात्त कर्म-चेतना की गूँज मिलती है; चाहे वह 'रघुवंशम्' में राजा दिलीप का कठोर गो-सेवा व्रत हो या 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में वियोग की तीव्र अग्नि में जलते हुए भी राजा दुष्यन्त द्वारा प्रजापालन और राजधर्म का निर्वाह करना हो। ये महान चरित्र सिद्ध करते हैं कि मानवीय संवेदनाएं कितनी भी उद्वेलित क्यों न हों, समाज और नीति के प्रति कर्म की शृंखला कभी टूटनी नहीं चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान और कर्म का जो समन्वय दिखाई देता है, वह अद्भुत है। उपनिषदों का गहन ज्ञान यदि व्यावहारिक जीवन से कट जाए तो वह केवल एक बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जाता है, और कर्म यदि विवेक से शून्य हो जाए तो वह एक अन्धी प्रवृत्ति बन जाता है। इसलिए श्रीकृष्ण बुद्धियोग की स्थापना करते हुए कहते हैं कि कर्मों में जो कुशलता है, वही वास्तव में योग है- "योगः कर्मसु कौशलम्।"[17] यह कुशलता केवल तकनीकी दक्षता नहीं है, बल्कि नैतिक सजगता, शुद्ध

अंतःकरण और मानसिक सन्तुलन का नाम है। ज्ञान मनुष्य को कर्म की सही दृष्टि देता है, कर्म उसे सक्रिय और समाज के प्रति उत्तरदायी बनाता है तथा समत्व उसे विपरीत परिस्थितियों में टूटने से बचाता है। विवेक जब पुरुषार्थ का हाथ थामता है, तो मनुष्य अपनी सारी मानसिक दुर्बलताओं को पीछे छोड़कर पुनः क्रियाशील हो जाता है।

इस अद्भुत समन्वय की पराकाष्ठा गीता के स्थितप्रज्ञ पुरुष के स्वरूप में दिखाई देती है, जो अपनी समस्त कामनाओं का पूर्णतः त्याग कर अपनी आत्मा में ही संतुष्ट रहता है- "प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।"[18] वह न तो अनुकूल परिस्थितियों में हर्षित होता है और न ही प्रतिकूलताओं में उद्वेग को प्राप्त होता है। यह आदर्श बृहदारण्यक उपनिषद् के उस आत्मज्ञानी पुरुष की स्मृति जगाता है जो आत्मतृप्त होकर बाह्य संसार के क्षणिक आकर्षणों से मुक्त हो जाता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख-दुःख, हानि-लाभ और भय-क्रोध से परे होकर निर्लिप्त भाव से अपने सामाजिक और नैतिक कर्तव्य का निर्वाह करता है। वास्तव में गीता का यह आदर्श मानव जीवन की उच्चतम नैतिक और व्यावहारिक अवस्था है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य संसार में रहते हुए भी कीचड़ में कमल की भाँति निर्लिप्त रहता है।

आधुनिक समय में जब मनुष्य अभूतपूर्व भौतिक उपलब्धियों के बावजूद आन्तरिक अशान्ति, असुरक्षा, तीव्र प्रतियोगिता और गम्भीर नैतिक संकट से जूझ रहा है, तब गीता का यह शाश्वत संदेश और अधिक प्रासंगिक हो उठता है। आज का मनुष्य भी क्षणिक सम्बन्धों, संकीर्ण स्वार्थों, असफलता के अवसाद और भविष्य के भय के कारण कदम-कदम पर अपने कर्तव्य से विमुख होकर मानसिक अवसाद का शिकार हो रहा है। ऐसे संक्रमण काल में गीता का यह अमर स्वर कि ज्ञान से अपने भीतर के भ्रम को जीतो और निष्काम भाव से कर्म में प्रवृत्त हो जाओ, समग्र मानवता के लिए एक संजीवनी बूटी की तरह मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार, श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान और कर्म के मणिकांचन समन्वय द्वारा कर्तव्य-विमुखता का अत्यन्त गहन, साहित्यिक और व्यावहारिक उपचार प्रस्तुत करती है। यह केवल एक प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि भटके हुए मानव को सन्मार्ग पर लाने वाली सम्पूर्ण मानवता की नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का शाश्वत महाघोष है।

संदर्भ -

1. श्रीमद्भगवद्गीता (1.28)
2. श्रीमद्भगवद्गीता (1.30)
3. कठोपनिषद् (1.1.26)
4. श्रीमद्भगवद्गीता (2.11)
5. श्रीमद्भगवद्गीता (2.20)
6. कठोपनिषद् (1.2.18)
7. श्रीमद्भगवद्गीता (2.22)
8. ईशावास्योपनिषद् (मंत्र 1)
9. श्रीमद्भगवद्गीता (2.31)
10. रामचरितमानस (अयोध्याकाण्ड)
11. श्रीमद्भगवद्गीता (2.47)
12. [ईशावास्योपनिषद् (मंत्र 2)
13. श्रीमद्भगवद्गीता (2.38)
14. श्रीमद्भगवद्गीता (2.48)
15. श्रीमद्भगवद्गीता (2.3)
16. महाभारत (उद्योगपर्व)

17. श्रीमद्भगवद्गीता (2.50)
18. श्रीमद्भगवद्गीता (2.55)